वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल ५, गुरुवार, दिनाङ्क २३-०६-१९६६
गाथा ४२ से ४५ प्रवचन नं. १६

वास्तव में शरीर ही तीर्थ और मन्दिर है। समझ में आया? यह शरीर ही आत्मा का तीर्थ और मन्दिर है, क्योंकि यहाँ आत्मा बसता है। बाह्य मन्दिर में कहीं यह आत्मा नहीं बसता। आत्मा को देखना और जानना हो – अनुभव करना हो तो कहीं (वह) मन्दिर में नहीं, प्रतिमा में नहीं, तथा साक्षात् भगवान है, उनमें भी यह आत्मा नहीं है। समझ में आया? इस आत्मा को देखना हो, जानना हो तो इस शरीररूपी तीर्थ और मन्दिर में वह दिखेगा। यह आत्मा कहीं भगवान के पास नहीं है। समवसरण में नहीं है कि वहाँ उसके समक्ष देखने से यह आत्मा दिखे।

प्रश्न – नमूना तो सच्चा है।

उत्तर – नमूना यहाँ होता है या वहाँ होगा?

मुमुक्षु – मन्दिर में नहीं?

उत्तर – नहीं, नहीं; उसमें बिल्कुल नहीं। यह आत्मा वहाँ है या यहाँ है? नमूना यहाँ है या वहाँ है? कहो, यह तो यहाँ ४२ (गाथा में) सिद्ध करना है। समझ में आया?

'तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु।' श्रुतकेवली भगवान, श्रुतकेवली भगवान ऐसा कहते हैं। यह निश्चय की बात है न? **'देहादिवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुतु।'** देहरूपी देवालय में यह जिनेश्वर विराजमान है। देखो! यह वास्तविक तत्त्व। यह तो भगवान है, यह कहीं भावनिक्षेप से वहाँ नहीं। प्रतिमा और मन्दिर है, वह वहाँ भावनिक्षेप से भगवान है? वह तो स्थापना है।

यहाँ शरीर और यह तीर्थ है। यह शरीर, वह मन्दिर है कि जिसमें भगवान स्वयं

अन्दर में जाए तो तीर्थ हो – तिरने का उपाय मिले। कहो, इसमें समझ में आया? इसमें बड़ा विवाद आया था न? 'लालनजी' को इस गाथा में उन्हें संघ से बाहर किया था, ऐसा अर्थ पहले किया तब। सम्प्रदाय में रहने दें? ऐ...ई...! अरे! हमारा मन्दिर.... हमारे मन्दिर....! परन्तु उस मन्दिर में तेरा आत्मा वहाँ कहाँ है? तुझे आत्मा का दर्शन, और आत्मा को देखना और आत्मा का तीर्थ करना या पर का करना है तुझे? हैं?

मुमुक्षु – बहुत वर्षों तक मन्दिर में थे, स्थानकवासी हैं वे।

उत्तर – वे थे, सब पता है। सब पता है, कितने वर्ष पहले का पता है। 'लालन' हमारे पास रहे थे न!

श्रुतकेवली, वापस भाषा है, हाँ! श्रुतकेवली ऐसा कहते हैं। **वुत्तु.... वुत्तु** कि देह देवल में **देउ जिणु** ऐसा जान। **णिरूत्तु** इस देह देवालय में भगवान है – ऐसा करके सिद्ध करते हैं कि भाई! तेरा आत्मा तो यहाँ है। आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अखण्ड आनन्द, वह इस शरीर में विराजमान है, तू अन्दर उसके सन्मुख देख तो तुझे आत्मा मिलेगा या वहाँ मन्दिर में देखने से आत्मा मिलेगा? समझ में आया? क्या है इसमें? चिमनभाई! पहेली कठिन होती जाती है। यह सब है, वह उत्थापित हो जाता है – ऐसा कहते हैं। कहाँ गये? परन्तु वह तो शुभभाव में वे भगवान कैसे थे – यह स्मरण करने में वे निमित्त हैं। स्मरण करे तो.... परन्तु स्मरण भगवान कैसे थे वे? और वे भगवान कैसे थे, ऐसा मैं हूँ – ऐसा जानने का तो यहाँ आत्मा में है। इसमें समझ में आया? रतनलालजी!

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर कैसे थे? – उनका सामने एक प्रतिबिम्ब है (कि) ऐसे भगवान। यह भगवान का स्मरण। पर भगवान, हाँ! समझ में आया? उसमें – शुभभाव में वह (स्मरण) निमित्त था। आत्मा वहाँ से प्राप्त होता है या भगवान साक्षात् विराजते हों, वहाँ से आत्मा प्राप्त होता है? ऐ....निहालभाई! अद्भुत बात! एक ओर मूर्ति स्थापित करना, मन्दिर होना और फिर कहे कि उसमें भगवान नहीं। हैं? वहाँ भगवान होवे तो फिर यहाँ अन्दर देखने का नहीं रहता। ऐसे ही (बाहर ही) देखा करे। ऐसे देखने से यह आत्मा दिखे – ऐसा है? – ऐसा साक्षात् भगवान हो, वहाँ देखे (तो) यह भगवान दिखे ऐसा है? इस देहदेवालय को तीर्थ और मन्दिर कहा जाता है, जहाँ भगवान आत्मा विराजता है,

परमानन्द निज परमात्मा। उसे देखने के लिए यह शरीर ही तीर्थ और मन्दिर है। ऐसा व्यवहार है, शुभभाव है।

मुमुक्षु – तब तो फिर उदासीन और प्रेरक में कोई फर्क रहता ही नहीं।

उत्तर – यहाँ सब उदासीन ही है; प्रेरक-फ्रेरक कोई है ही नहीं। प्रेरक तो उसकी गतिवाला हो या इच्छावाला हो तो इस अपेक्षा से प्रेरक कहलाता है। दूसरे के कार्य के लिए किसी प्रेरक में अन्तर है – ऐसा है नहीं। हमारे पण्डितजी तो कुछ बोले नहीं, यह बताया तो भी, सुन लिया। यह दो होकर एक डाला इन्होंने उदासीन-प्रेरक। फिर उदासीन-प्रेरक क्या? कुछ कराता है, उससे होता है, शास्त्र के वाक्य से कुछ ज्ञान होता है, यहाँ से यहाँ (ज्ञान) होता है? धूल में भी नहीं होता। सुन न! यह तो परसम्बन्धी का जो ज्ञान होता है, वह भी तुझसे होता है, उसमें निमित्त कहलाता है। उसमें स्वसम्बन्धी का ज्ञान, देह सम्बन्धी होता ही नहीं। शास्त्र के वाक्य, वे निमित्तरूप हों या मन्दिर आदि निमित्तरूप हों, वह तो परसम्बन्धी के ज्ञान में स्मरण में निमित्तरूप है; उपादान तो वहाँ अपना है। समझ में आया? और अपने स्मरण के लिए उस निमित्त के ऊपर लक्ष्य करे, तब स्मरण होता है अपना? शास्त्र वाक्य हो तो भी वह वाक्य ऐसा है – ऐसा बतलाता है, वह तो परसम्बन्धी का ज्ञान, वह अभी परलक्ष्यी ज्ञान है, उसमें भी उपादान तो स्वयं का ही है; वाक्य (तो) निमित्तमात्र है।

भगवान ऐसे थे, मन्दिर में जाकर (देखे कि) भगवान ऐसे थे, उनके स्मरण में स्मरण तो अपना उपादान है, उसमें वे निमित्त हैं। इस उपादान के स्मरण में वह आत्मा आता है? समझ में आया? यहाँ पर इतनी बात सिद्ध करनी है और फिर दूसरे श्लोक में दूसरे प्रकार से सिद्ध करनी है।

भगवान आत्मा..... देखो! **न मन्दिर में, न तीर्थक्षेत्र में, न गुफा में, न पर्वत पर, न नदी के तट पर.....** कहीं यह आत्मा नहीं है। है आत्मा कहीं? तो जहाँ नहीं, उसे परमार्थ मन्दिर और तीर्थ कैसे कहा जाएगा? है तो इस शरीर में है। इसे मन्दिर और इसे तीर्थ कहते हैं कि जो अन्दर में देखने से आत्मा का ज्ञान होता है। समझ में आया? **अभी तक जिसने परमात्मा को देखा है, उसने अपने अन्दर ही देखा है।** लो! इस ओर

लिखा है। १७४ पृष्ठ पर। समझ में आया? (पृष्ठ) १४२ वाँ है न? जो अभी तक अनन्त आत्माएँ जो हुए, उन्होंने आत्मा देखा तो अन्दर में देखा है। या बाहर में देखा है? या बाहर के द्वारा देखा है? कहो, समझ में आया? यहाँ तो उत्थापते हैं। वह तो शुभ में भगवान कैसे थे – उनके स्मरण में निमित्तमात्र है, परन्तु वहीं मान ले कि यह भगवान है और इनसे मुझे आत्मलाभ होगा..... तो आत्मा तो यहाँ है, वहाँ कहाँ था? समझ में आया? तीर्थ और मन्दिर में भटका-भटक (करता है)। मानो वहाँ से मोक्ष मिल जाएगा; मानो वहाँ से आत्मा आ जाएगा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान... सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो अन्दर दृष्टि करे तब प्राप्त हो ऐसा है। समझ में आया? अद्भुत बात, भाई! समझ में आया? यह तो फिर दूसरी बात की है।

यहाँ तो अपने इतना (लेना है कि) **वर्तमान में परमात्मा का दर्शन करनेवाला भी अपने शरीर के अन्दर ही देखता है; भविष्य में भी जो कोई परमात्मा को देखेगा, वह अपने शरीररूपी मन्दिर में ही देखेगा।** तीन काल की बात सिद्ध की है। अपने इसमें से सार-सार (लेते हैं)। समझ में आया? अनन्त काल में जितने आत्मा हुए – मोक्ष को प्राप्त हुए या सम्यग्दर्शन-ज्ञान को प्राप्त हुए, वे अन्दर आत्मा के भीतर में से -अन्तर से प्राप्त हुए हैं। कहो, ठीक होगा? हैं? और वर्तमान में पाते हैं, वे भी अन्तर में दर्शन करने से पाते हैं; भविष्य में पायेंगे तो अन्तर में इस आत्मा को देखने से अन्दर आत्मा मिलेगा। इस आत्मा को कोई भूतकाल में बाहर से देखकर पाये, वर्तमान में फिर अन्दर से देखकर पाये और भविष्य में फिर दूसरे प्रकार से पायें – ऐसा होगा? समझ में आया?

चाहे तो तीर्थ हो सम्मेदशिखर और चाहे तो शत्रुञ्जय और चाहे तो मन्दिर (होवे), सब (वे) भगवान सर्वज्ञ परद्रव्य कैसे थे? – उनके स्मरण के लिए निमित्त है। समझ में आया? आत्मा का स्मरण, तो स्मरण कब होता है? कि पहले उसका अवग्रह, विचारधारा होवे तब न? तो उसे पकड़कर विचारधारा कहाँ से प्रगटे? अन्दर लक्ष्य करे, तब प्रगटे या बाहर के लक्ष्य से प्रगटे? तो किसके यह सब बड़े मन्दिर बनाते हो? यह तीन-तीन लाख के मन्दिर! अच्छा होता है, रामजीभाई कहते हैं, तुम्हारे अहमदाबाद में अच्छा होगा, हाँ! बड़े सेठ कहलाते हो। भले उसके-लड़के के पिता तो कहलाओ। कहो, समझ में आया?

साधारण नहीं चलता। प्रमुख तुम्हारा है या नहीं ? यह तुम्हें कहते हैं। कहो, समझे इसमें ? आहा...हा... ! समझ में आया ?

यह आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द सम्पन्न है, तो इस आत्मा की प्राप्ति आत्मा के सन्मुख देखकर होवे – ऐसा है या पर के सन्मुख देखकर होवे – ऐसा है ? यह आत्मा अन्तर में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द – ऐसा आत्मा यहाँ विराजमान है। अब इस आत्मा के सन्मुख देखना हो तो कहाँ देखना ? ऐसा (बाहर में) देखना ? अन्तर में अन्दर देखने से आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक है, वह तो अन्तर में देखने से वह भाव ज्ञात हो – ऐसा है, इसलिए वास्तव में आत्मा को यह देह, वही देवालय है। देह ही देवालय है और देह ही वह तीर्थ है कि जहाँ आत्मा प्राप्त होता है। दूसरे देह और देवालय में वहाँ कहीं आत्मा प्राप्त होवे – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! अद्भुत बात की है। भाई !

मुमुक्षु – छह आवश्यकों में पहला तो देव-दर्शन आता है।

उत्तर – देवदर्शन है न ? परदेव या यह देव ? कौन-सा (देव) ? यह क्या चलता है ? इस ४२ वीं गाथा में क्या लिया ? देखो ! **'तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि'** तीर्थ में, देव में यह देव नहीं। तीर्थ में और देवालय में यह देव नहीं – ऐसा श्रुतकेवली कहते हैं।

मुमुक्षु – इसका पर है न इसलिए।

उत्तर – वे तो पर हैं। वहाँ कहाँ आत्मा था ? उसके लिए तो यह लगाई है यहाँ।

योग-अन्दर आत्मा का योग। ऐसा जुड़ा, वह ऐसे जुड़ाय ? मन्दिर और तीर्थ में देखने से आत्मा दिखता होगा ? समझ में आया ? आहा...हा... ! अद्भुत बात !

योगीन्द्रदेव मुनि दिगम्बर सन्त हैं, वे स्वयं ४२ वें (दोहे में) कहते हैं। वास्तव में शरीर तीर्थ नहीं है, सब बाहर का उड़ा दिया। यहाँ जा और अन्दर देख – ऐसा कहते हैं। रतनलालजी ! लोगों में शोर मच जाये.... हाय...हाय... ! सुन न ! यह तो भगवान कैसे थे ? उसका ज्ञान-परोक्ष स्मरण करने में वे निमित्त हैं। समझ में आया ? अथवा जहाँ -जहाँ भगवान मोक्ष पधारे, वहाँ आगे ऊपर विराजमान हैं, उनका स्मरण (होता है) कि हो...हो... !

परन्तु वे तो पर के द्रव्य के परमात्मा के स्मरण में वे निमित्त हैं। इस भगवान आत्मा की स्मरण के लिए तो अन्दर में जाये तो स्मरण होता है – ऐसा है। आहा...हा...! हैं?

मुमुक्षु – अपने हित के लिए भी निमित्त के सन्मुख देखना ही नहीं?

उत्तर – निमित्त के सन्मुख देखे, इसे देखे नहीं – ऐसा है। यह योगसार है, योग अर्थात् आत्मा, शुद्ध चिदानन्द में जुड़ना-एकाकार होना। यह ऐसे (बाहर में) एकाकार होने से ऐसे (अन्दर) एकाकार हो – ऐसा नहीं है। ए... निहालभाई! पहुँच तो वहाँ फिर चिपटे, वहाँ मुक्ति और मोक्ष है.... वह तो एक शुभभाव होता है तब स्मरण में भगवान के स्मरण के लिए ऐसे भगवान थे। उस स्मृति को फिर झुकाना है अन्दर में.... वह स्मृति तो परलक्ष्यी हुई है। समझ में आया? ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर, वैसा मैं हूँ – ऐसा इसे अन्तर में जाए तो इसकी शक्ति की प्रतीति होती है या बाहर में देखने से प्रतीति होती होगी? सम्मेदशिखर देखे और शत्रुंजय देखे... दो हजार पुराना मन्दिर है, और पाँच हजार पुरानी प्रतिमा है। इससे भी लाख वर्ष पुरानी हो तो क्या है? परन्तु यह अनन्त काल का प्राचीन यह आत्मा है, वह? हैं? आहा...हा...!

जब जो जीव अनन्त हुए, उन्होंने इस आत्मा में अन्तर देखा, आत्मा अनन्त आनन्दकन्द है – ऐसा अन्तर में देखा, तब आत्मा की प्राप्ति हुई। कभी बाहर में देखकर आत्मा की प्राप्ति होवे – ऐसा भूतकाल में किसी जीव को हुआ नहीं, वर्तमान में होता नहीं, भविष्य में होगा नहीं। जो जीव, आत्मा अखण्डानन्द प्रभु शुद्ध ध्रुव चैतन्य में अन्तर योग करेगा-जुड़ेगा, तब उसका ज्ञान होगा और तब इसका कल्याण होगा। अहा...हा...! कहो, समझ में आया? फिर तो इन्होंने लम्बी बात की है, उसका कुछ नहीं।

कोई साधु की मूर्ति को देखकर प्रश्न.... करे। लो! कोई साधु की मूर्ति को देखकर प्रश्न करे तो वह सच्ची बात है? वह मूढ़ है या नहीं? वहाँ कहाँ साधु थे? (वह तो) साधु की मूर्ति है। समझ में आया? मूर्ति देखकर पूछे कि महाराज! इसका क्या? तू मूढ़ है, वहाँ कहाँ साधु थे? वह तो स्थापना है। इसी प्रकार भगवान की स्थापना (की हो उसमें) वहाँ कहाँ भगवान थे? समझ में आया? इतना थोड़ा-थोड़ा ठीक है, कोई-कोई बोल। अब, ४३।

☆ ★ ☆

देवालय में साक्षात् देव नहीं है

देहा-देवलि देउ जिणु, जणु देवलिहिँ णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु, सिद्धे भिक्ख भमेइ॥४३॥

तन मन्दिर में देव जिन, जन मन्दिर देखन्त।
हँसी आय यह देखकर, प्रभु भिक्षार्थ भ्रमन्त॥ ४३॥

अन्वयार्थ – (जिणु देउ देहादेवलि) श्री जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में है **(जणु देवलिहिं णिएइ)** अज्ञानी मानव मन्दिरों में देखता-फिरता है **(महु हाउस पडिहाइ)** मुझे हँसी आती है **(इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ)** जैसे इस लोक में धनादि की सिद्धि होने पर भी कोई भीख माँगता फिरे।

☆ ★ ☆

४३ – **देवालय में साक्षात् देव नहीं है।** देखो! उसमें (४२ गाथा में) यह तीर्थ और मन्दिर है – ऐसा कहा था। अब, देवालय में साक्षात् देव नहीं है (ऐसा कहते हैं)। वह तो परोक्ष व्यवहार देव है।

मुमुक्षु – दूसरे सम्प्रदायवाले इस गाथा का आधार निषेध के लिए देते हैं।

उत्तर – निषेध के लिए देते हैं। यह तारणस्वामीवाले, यह स्थानकवासी लोग इसका (आधार) देते हैं। देखा यह? यह तो आत्मा का अन्दर (उपयोग) प्रयोग करे, तब यह साधन अन्तर में होता है परन्तु जब अन्दर स्थिर नहीं हो सकता, तब भगवान परमात्मा, मन्दिर, देव, का शुभभाव होता है, होता है; वह नहीं है – ऐसा माने तो भी मूढ़ है और उससे (कुछ धर्म) होता है – ऐसा माने तो भी नहीं है। अरे... समझ में आया? बाह्य तीर्थ, मन्दिर, भक्ति, और पूजा का भाव होता ही नहीं – ऐसा माने तो वह व्यवहार को नहीं मानता। व्यवहार है अवश्य परन्तु उससे आत्मा की प्राप्ति होती है – ऐसा माने तो व्यवहार और निश्चय एक हो गये, मूढ़ हो गया वह तो। समझ में आया? ४३।

देहा-देवलि देउ जिणु, जणु देवलिहिँ णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु, सिद्धे भिक्ख भमेइ॥४३॥

श्री जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में है। यह जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में है, यह जिनेन्द्रदेव, हाँ! स्वयं का है न? वहाँ (समयसार में) ३१वीं गाथा में केवली की स्तुति में आत्मा रखा है। समझ में आया? केवलज्ञानी की स्तुति कैसे होती है? – ऐसा भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव को प्रश्न किया। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा कि इस आत्मा के अन्दर अतीन्द्रिय का अनुभव करे, इन्द्रियातीत होकर, तो वह केवली की स्तुति की कहा जाता है। समझ में आया?

श्री जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में हैं। यह जिनेन्द्र यहाँ है। **'जणु देवलिहि जिएइ' अज्ञानी जीव मन्दिरों में देखा करते हैं।** वहाँ यह भगवान विराजते हैं – ऐसा मानते हैं। वहाँ तो भगवान की स्थापना है। वहाँ तो साक्षात् भावनिक्षेप से भगवान वहाँ भी नहीं है, पर भगवान भी वहाँ नहीं है। हैं? विवेक बिना वहीं उनके सन्मुख देखने से मेरा कल्याण हो जाएगा और अन्दर का सम्यग्दर्शन हो जाएगा और सम्यग्ज्ञान हो जाएगा – (ऐसा माने तो) मूढ़ है। ऐसा यहाँ कहते हैं।

अज्ञानी **'जणु देवलिहि जिएइ'** मन्दिरों में देखते हैं। वहाँ भगवान है, वहाँ भगवान है, वहाँ भगवान है। हे भगवान! दे दो मुझे, दे दो, शिवपद मुझको दे दो रे महाराज! शिवपद! तेरा शिवपद वहाँ है? तेरा शिवपद तो यहाँ है। जो होवे वह तो बात लेनी न? तुम्हारे मन्दिर होता हो तो क्या? नया होता है इसलिए मानो....

मुमुक्षु – तो फिर दर्शन करते समय वहाँ क्या कहना?

उत्तर – कहना वहाँ क्या? ऐसे बोले भले परन्तु उसका विवेक चाहिए कि वे कुछ दे ऐसा नहीं। मेरा शिवपद तो मेरे पास है, यह तो एक भक्ति का भाव है। आहा...हा...! बाह्य भक्ति तो.... अन्दर की भक्ति तो अन्दर में उतरे वह भक्ति है। ज्ञानानन्दस्वरूप के अन्दर में एकाकार होकर अनुभव करना, वह आत्मा की भक्ति है। जिसके सन्मुख देखकर स्थिर होवे उसकी भक्ति वह है। सन्मुख देखकर उसमें स्थिर होवे तो वह परभक्ति है,

व्यवहार है। होता है, व्यवहार; व्यवहार नहीं – ऐसा नहीं। पूर्ण वीतराग न हो, इसलिए ऐसा व्यवहार होता है परन्तु कोई ऐसा माने कि इस व्यवहार के द्वारा अन्तर में निश्चय होगा – यह बात मिथ्या है, यह बात यहाँ सिद्ध करते हैं। समझ में आया?

कहते हैं कि '**महु हासउ पडिहाइ**' अरे.... **मुझे हँसी आती है।** बड़ा राजा **इस लोक में धनादिक की सिद्धि होने पर भी वह भीख माँगता फिरता है....** बड़ा राजा हो और भीख माँगे, भाईसाहब! कुछ देना, रोटी देना... इसी प्रकार तीन लोक का नाथ चैतन्य भगवान यहाँ विराजता है और माँगता है पर से। परदेवालय में और मन्दिर में माँगता है कि मुझे मोक्ष देना, वह है उसमें? 'राजा भिक्षार्थ भ्रमे ऐसी जन को टेव' है या नहीं इसमें? समझ में आया?

भगवान आत्मा....! यहाँ तो योगसार है न? योग अर्थात् अपने में जुड़ान हो, तब योग कहलाये या पर में जुड़ान हो, वह योगसार कहलाये? अपने में, ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य में एकाकार होने से योगसार कहा जाता है। योगसार नहीं, योग है भले व्यवहार, सार नहीं; सार तो यह योगसार है। समझ में आया? आहा...हा...! दूसरे प्रकार से कहें तो वह योग तो असत्य है, यह योग ही सत्य है; वह योग व्यवहार है, यह योग निश्चय है; व्यवहार योग असत्यार्थ है, निश्चययोग सत्यार्थ है। समझ में आया? अरे...!

मुमुक्षु – दूसरा रंग.....

उत्तर – दूसरा रंग होवे, शुभभाव का होवे। दूसरा क्या है? जब होवे तब शुभ होवे, तब भगवान ऐसा है। ऐसा भी कहे हे प्रभु! तुम्हारी भक्ति से... देखो न! श्रीमद् का एक वाक्य नहीं? 'भजि ने भगवन्त भव अन्त लहो, भजि ने भगवन्त भव अन्त लहो' ए.... निहालभाई! 'भजि ने भगवन्त....' दूसरे ऐसा बोले कि उन भगवान को भजकर भव का अन्त हो गया। शब्द ऐसे हैं। आता है न? 'शुभ शीतलतामय छाय....' भाषा तो ठीक, भव अन्त की बात लेते हैं। वापस वह (आता है) 'भजि ने भगवन्त....' इस भगवान को भजकर, यह भगवान ऐसा कहते हैं, उनका भजन तब व्यवहार से कहलाता है कि वे ऐसा कहते हैं कि तेरे स्वरूप का भजन कर, तब भव का अन्त आयेगा। समझ में आया? हमारा स्मरण करते रहने से, हमारे सन्मुख देखकर मर जाए तो भी कहीं तेरा कल्याण हो – ऐसा नहीं है।

है वीतरागमार्ग! परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ का मार्ग ऐसा है। जगत् तो ऐसा एकान्त मानकर बैठ जाता है कि वहाँ से हमारा मोक्ष होगा, वह मूढ़ है। वैसे ही आत्मा के स्वरूप का आश्रय करके पूर्ण स्थिरता न हो, तब तक ऐसा स्मरण और भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता। अशुभ से बचने के लिए (आता है)। स्थिरता का शुद्ध उपयोग न हो (तब) अशुभ से बचने के लिए ऐसा शुभभाव होता है परन्तु उस व्यवहार से अन्दर में कल्याण होगा – ऐसा मान ले तो वह बात (झूठ है)। आहा...हा...! सामने देखना छोड़कर अन्दर में देखेगा, यह भगवान अन्दर में पूर्णानन्द का नाथ विराजता है 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' – यह अन्दर में देखे, तब उसका कल्याण होगा। ज्ञान से देखे, श्रद्धा से माने, स्थिरता से लीन हो, उसमें स्थिर होवे और उसे देखे और माने, स्थिर हो या बाहर से आता होगा? आहा...हा...! कहो समझ में आया? जो बात हो वह स्पष्ट तो आना चाहिए या नहीं।

लोक में बड़ा धनाढ्य हो और घर का.... यहाँ कहने का आशय ऐसा है कि पूँजी है घर में.... समझ में आया? पूँजी समझे न? लक्ष्मी है घर में और माँगने जाए वहाँ.... ऐसे यह लक्ष्मी यहाँ अन्दर में पड़ी है – अनन्त केवल ज्ञानादि लक्ष्मी तो यहाँ है, भीख माँगता है भगवान के पास, बाहर के भगवान के पास... हे भगवान! देना, कुछ देना। वे भगवान कहते हैं कि तेरे पास है, मेरे पास नहीं। समझ में आया? देखो!

यहाँ इस बात पर लक्ष्य दिलाया है कि जो लोग केवल जिनमन्दिरों की बाहरी भक्ति से ही संतुष्ट होते हैं व अपने को धर्मात्मा समझते हैं, इस बात का बिलकुल विचार नहीं करते हैं कि यह मूर्ति क्या सिखाती है व हमारे दर्शन करने का व पूजन करने का क्या हेतु है, कुछ नहीं समझते.... वे केवल कुछ शुभभाव के पुण्य बाँध लेते हैं परन्तु उनको निर्वाण का मार्ग नहीं दिख सकता है। अन्तरंग चारित्र के बिना बाहरी चारित्र होता है – यह बालू में से तेल निकालने के समान प्रयोग है। बाह्य चारित्र है न यह सब? पूजा, भक्ति आदि बाह्य चारित्र है, व्यवहार है, विकल्प.... इस अन्तरंग बिना चारित्र, अन्तर में रमणता बिना यह बाहर का चारित्र **बालू में से तेल निकालने के समान प्रयोग है।** रेत में से तेल निकालना। **सम्यग्दर्शन**

बिना.... अर्थात् क्या कहते हैं ? अपना जो स्वरूप है, उसे अन्तर्मुख से प्रतीति किये बिना **सर्व ही शास्त्र का ज्ञान व सर्व ही चारित्र मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र है।** कहो, समझ में आया इसमें ? आहा...हा... ! ऐसा कहकर बहुत बात ली है।

थोड़ा सा अन्त में लिया है। पृष्ठ १७९ में – **जिसने आत्मदेव को शरीर के अन्दर देख लिया, उसे फिर बाहर की क्रिया में मोह नहीं हो सकता।** बाह्य क्रिया आवे अवश्य परन्तु मोह नहीं है। **कारणवश अशुभ से बचने के लिए वह बाह्य क्रिया करे तो भी उसे निर्वाण का मार्ग नहीं मानता।** यह सब सार है। लक्ष्य में होवे तो सब आ जाता है। बाकी सब लम्बी बात बहुत है। समयसार का दृष्टान्त दिया है। **जो परमार्थ से बाह्य है....** समयसार है न ? **'परमट्ठबाहिरा'** परमार्थ भगवान आत्मा.... (वहाँ) पुण्य का अधिकार है। तो पुण्यभाव तो शुभभाव है और शुभभाव में लक्ष्य तो पर के ऊपर जाता है। स्वभाव चैतन्यस्वरूप, जिसे उसकी दृष्टि नहीं, उसका आश्रय नहीं – ऐसे परमार्थ से बाह्य जीव **निश्चयधर्म को नहीं जानते।** सच्चे धर्म को नहीं समझते। **मोक्ष के मार्ग को नहीं जानते वे अज्ञान से संसार भ्रमण के कारणरूप पुण्य को ही चाहते हैं....** उस शुभभाव की ही भावना होती है, उससे मुक्ति होगी – ऐसा मानते हैं। **पुण्यकर्म का बंध करनेवाली क्रिया को निर्वाण का कारण मान लेते हैं।**

दूसरा दृष्टान्त दिया है, मोक्षमार्ग का समयसार का – **कोई बहुत कष्ट से मोक्षमार्ग से विरुद्ध असत्य व्यवहाररूप क्रियाएँ करके कष्ट भोगता है तो भोगो....** मिथ्यादृष्टि अन्य और कोई जैन में रहनेवाले **जैनों के महाव्रत और तप के भार से पीड़ित होते हुए कष्ट भोगते हैं तो भोगो परन्तु उनका मोक्ष नहीं होता है।** पर तरफ के लक्ष्य में दया, दान, व्रत, भक्ति, तप से कभी भी मुक्ति नहीं होती है। अरे ! व्यवहार, व्यवहार, व्यवहार.... व्यवहार है अवश्य, परन्तु उससे निश्चय प्राप्त नहीं होता – ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। पर के योग से स्व-योग प्राप्त नहीं होता। योगीन्द्रदेव (ऐसा कहते हैं) कि श्रुतकेवली ऐसा कहते हैं, श्रुतकेवली ऐसा निश्चय से कहते हैं। समझ में आया ? यह ४३ (गाथा पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

समभाव से अपने देह में जिनदेव को देख

मूढा देवलि देउ णवि, णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा-देवलि देउ जिणु, सो बुज्झहि समचित्ति॥४४॥

नहीं देव मन्दिर बसत, देव न मूर्ति चित्र।
तन मन्दिर में देव जिन, समझ होय समचित्त॥ ४४॥

अन्वयार्थ – (**मूढा**) हे मूर्ख! (**देउ देवलि णवि**) देव किसी मन्दिर में नहीं है (**सिलि लिप्पइ चित्ति णवि**) न देव किसी पाषाण लेप या चित्र में है (**जिणु देउ देहा-देवलि**) जिनेन्द्रदेव परमात्मा शरीररूपी देवालय में हैं (**समचित्ति सो बुज्झहि**) उस देव को समभाव से पहचान या उसका साक्षात्कार कर।

☆ ★ ☆

४४। **समभाव से अपने देह में जिनदेव को देख।** उन दो में निषेध किया न? अब यहाँ देखने में साधन क्या? ऐसा कहते हैं। यह तीर्थ और मन्दिर यह है – ऐसा कहा। देवालय में देव नहीं (है), अज्ञानी मानता है – ऐसा कहा। तब यहाँ देखने में करना क्या? किस भाव से आत्मा दिखता है? समझ में आया?

मूढा देवलि देउ णवि, णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा-देवलि देउ जिणु, सो बुज्झहि समचित्ति॥४४॥

वजन यहाँ है। उन परदेव, देवालय में तो शुभराग है, शुभविकल्प है, पर का स्मरण है। भगवान आत्मा को अन्दर देखने में '**समचित्ति**' सम्यक्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान के द्वारा आत्मा ज्ञात हो – ऐसा है। कहो, समझ में आया? '**समचित्ति**' क्यों कहा? बाहर के परोन्मुखता में तो शुभराग होता है। देवालय, देव, मन्दिर, दर्शन, भक्ति में शुभराग है। शुभराग से चैतन्यमूर्ति दिखती नहीं।

चैतन्यमूर्ति भगवान राग से रहित समभाव अरागी ज्ञान, अरागी श्रद्धा, अरागी स्थिरता द्वारा अन्तर में अवलोकन होता है। समझ में आया? यह '**समचित्ति**' योग है।

स्वभाव पूर्णानन्द का माहात्म्य आकर जो स्थिरता – अन्दर में एकाग्रता (होती है), उस एकाग्रता को यहाँ समभाव कहा गया है। बाहर की अन्दर में एकाग्रता हो, उसे तो विषमभाव-शुभराग कहते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा निज प्रभु आत्मा विराजमान है, उसे देखने में तो समभाव चाहिए; पर को देखने में तो राग होता है, शुभभाव होता है। समझ में आया?

हे मूर्ख! देव किसी मन्दिर में नहीं है न देव किसी पाषाण, लेप या चित्र में है.... समझ में आया? **'जिणु देउ देहा-देवलि' जिनेन्द्रदेव परमात्मा शरीररूपी देवालय में है।** देखो, यह जिनेन्द्र अर्थात् आत्मा.... **'जिणु'** कहा है न? **'जिणु'।** यह जिनदेव तो यह आत्मा है। **'जिणु देउ'** जिनदेव तो **'देहा-देवलि'** शरीररूपी देवालय में भगवान यहाँ विराजते हैं। तेरा जिनेन्द्र तो यहाँ विराजता है। वीतरागमूर्ति आत्मा.... आत्मा ही जिनेन्द्र है। जिनेन्द्र, अर्थात् वीतराग का इन्द्र है, अर्थात् आत्मा ही अपना वीतरागी स्वभाव का ही ईश्वर है। अपना त्रिकाल वीतरागस्वरूप है, अकषायस्वरूप है, अनाकुलस्वरूप है, बेहद शान्तस्वरूप है – ऐसा वीतराग का ईश्वर, यह आत्मा स्वयं ही जिनेन्द्र है। समझ में आया? अरे! भाईसाहब! मैं जिनेन्द्र होऊँ? तू जिनेन्द्र न हो तो होगा कहाँ से? पर्याय में – अवस्था में जिनेन्द्र आयेगा कहाँ से? भगवान आत्मा स्वयं स्वरूप से जिनेन्द्र न हो तो पर्याय में-अवस्था में जिनेन्द्र होगा कहाँ से? समझ में आया?

मुमुक्षु – हे भाई! हे सखा! हे भव्य... ऐसा आता है न?

उत्तर – यह तो सब सम्बोधन चाहे जो करे। हे भव्य! इसमें सम्बोधन चाहे जैसे करें, उसका कुछ नहीं।

'समचित्ति सो बुज्झहि' उस देव को समभाव से पहचान या उसका साक्षात्कार कर। लो, यह सार यहाँ है। वहाँ **परमात्मादेव ईंट और पाषाण के बने हुए मन्दिर में नहीं मिलेगा।** वहाँ परमात्मा नहीं मिलेगा। कहो? **नहीं परमात्मा का दर्शन किसी पाषाण या धातु या मिट्टी की मूर्ति में होगा या नहीं किसी चित्र में होगा।** लो! **अपना आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा जिनदेव है।** यहाँ डाला, यहाँ ही है। भगवान आत्मा वीतरागी पिण्ड आत्मा ध्रुव शाश्वत् चिदानन्दमूर्ति है, वह स्वयं ही

जिनेन्द्र का स्वरूप है। जिन और जिनवर ने कोई अन्तर नहीं है। ऐसा यह जीव, वह स्वयं ही जिनेन्द्र है। इसके दर्शन अन्तर में समभाव से होते हैं। समभाव अर्थात् परसन्मुख का झुकाववाला राग.... उसे छोड़कर, स्वभावसन्मुख की श्रद्धा, ज्ञान जो समभावरूप है, उससे भगवान जिनेन्द्र दिखते हैं, उससे श्रद्धा में आते हैं, उससे ज्ञात होते हैं। आहा...हा...!

योगीन्द्रदेव मुनि थे, दिगम्बर सन्त जंगल में बसते थे, उन्होंने दुनिया को यह कहा है। यह जैनधर्म का रहस्य है। समझ में आया? इस रहस्य का धारक भगवान तू है, तेरे सन्मुख देखने से तू परमात्मा होवे ऐसा है। पर के सन्मुख देखने से तू परमात्मा होवे – ऐसा नहीं है। पराधीनतावाले को (ऐसा लगता है कि) ऐसा होगा, पर के बिना मेरे चले नहीं, पर के बिना चले नहीं, पर के लक्ष्य बिना चले नहीं, पर के ज्ञान बिना चले नहीं, पर के आधार बिना चले नहीं... वह पामर हो गया। अर्थात् उसे अपनी स्वतन्त्रता का भान नहीं है। समझ में आया? वह तो एकान्त शुभभाव का निमित्त है – ऐसा कहते हैं। इतना, समझ में आया? बाकी लम्बी-लम्बी बात की है। वह तो सब चलता है। अब ४५ (गाथा)।

☆ ★ ☆

ज्ञानी ही शरीर मन्दिर में परमात्मा को देखता है

तित्थइ देउलि देउ जिणु, सव्वु वि कोई भणेइ।
देहा-देउलि जो मुणइ, सो बुहु को वि हवेइ॥४५॥

तीर्थ रु मन्दिर में सभी, लोग कहे हैं देव।
बिरले ज्ञानी जानते, तन मन्दिर में देव॥ ४५॥

अन्वयार्थ – (**सव्वु वि कोई भणेइ**) सब कोई कहते हैं (**तित्थइ देउलि देउ जिणु**) कि तीर्थ में या मन्दिर में जिनदेव है (**जो देहा-देउलि मुणइ**) जो कोई देहरूपी मन्दिर में जिनदेव को देखता या मानता है (**सो को वि बुहु हवेइ**) सो कोई ज्ञानी ही होता है।

☆ ★ ☆

ज्ञानी ही शरीर मन्दिर में परमात्मा को देखता है। शरीररूपी आत्मा का मन्दिर, यह आत्मा वहाँ देखता है, किसी दूसरे मन्दिर में यह आत्मा नहीं दिखता। यहाँ 'देखने' से शुरु किया है। वह नहीं देखता था, ऐसा था। समझ में आया? नहीं देखता था, ऐसा है, इसमें देव है अब देखता है यहाँ – ऐसा कहते हैं।

तित्थइ देउलि देउ जिणु, सव्वु वि कोई भणेइ।
देहा-देउलि जो मुणइ, सो बुहु को वि हवेइ॥४५॥

सब कोई कहते हैं कि तीर्थ में अथवा मन्दिर में जिनदेव है। अज्ञानी सब ऐसा कहते हैं कि भगवान वहाँ विराजते हैं। दूसरे आक्षेप करते हैं देखो! तुम्हारे में ऐसा लिखा है। अरे! सुन न अब, भाई! यह तो स्थापना निक्षेप को आत्मा वहाँ मान लेता है। उसे भावनिक्षेप माने वह तो भूल है, स्थापना में भाव भगवान है – ऐसा माने वह भूल है परन्तु उस स्थापना में यह आत्मा माने तो यह बड़ी भूल है – ऐसा कहते हैं, यहाँ तो यह बात है। समझ में आया? और स्थापना नहीं है – ऐसा माने तो भी वह मूढ़ जीव है। वस्तु नहीं कुछ? स्वयं को जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक अशुभ से बचने के लिए, (ऐसा) भाषा में व्यवहार (आता है)। वरना तो शुभभाव उस काल में उस प्रकार का होता है, उस प्रकार का, हाँ! भक्ति का, ऐसा। दया का राग हो, तब दया का; स्मरण का हो, तब स्मरण का; भक्ति का उस प्रकार का राग, उस काल में आता है, होता है परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि वहाँ तू आत्मा को देखना चाहेगा तो वहाँ आत्मा नहीं मिलेगा। समझ में आया? इसका वे तो वहाँ एकान्त मानकर आत्मा प्राप्त होगा, वहाँ से मुझे समकित होगा (ऐसा मानते हैं)। समकित तो स्वभाव सन्मुख होने से होता है, परसन्मुखता से तो व्यवहार समकित, (वहाँ) श्रद्धा का विषय पर है।

मुमुक्षु – उसे व्यवहार समकित नहीं होता?

उत्तर – बिल्कुल नहीं होता, इसके लिए तो यहाँ बात करते हैं। ऐसा देखे, ऐसा नहीं होता। फिर भी यह देखना है अवश्य; जहाँ तक पूर्ण अपने स्वरूप में स्थिर न हो, वहाँ तक ऐसा व्यवहार आये बिना नहीं रहता, व्यवहार को न माने (और) एकान्त,

निश्चय माने तो वह मूढ़ है और उस व्यवहार द्वारा आत्मा को देखेगा – ऐसा माने तो भी मूढ़ है। कहो ?

सब कोई कहते हैं कि तीर्थ में या मन्दिर में जिनदेव है। जो कोई देहरूपी मन्दिर में जिनदेव को देखता है या मानता है, सो कोई ज्ञानी ही होता है। ज्ञानी, कोई धर्मात्मा (देहरूपी) मन्दिर में आत्मा देखता है। समझ में आया ? भगवान आत्मा अन्दर पूर्णानन्द का नाथ है, उसे इस देहदेवालय में देखता है, वह ज्ञानी है। दूसरा अज्ञानी वहाँ भगवान देखता है, वह अज्ञानी है – ऐसा कहते हैं। व्यवहाररूप से जाने वह ज्ञानी है। व्यवहाररूप से जाने कि भक्ति है, शुभव्यवहार है, भगवान की स्थापना है, भगवान यहाँ साक्षात् विराजमान नहीं है। हमारे भगवान का मुझे उपकार वर्तता है, हमारे उपकारी का भाव प्रसिद्ध करने के लिए भगवान की मूर्ति की भक्ति है – ऐसा जाने तो वह अज्ञानी नहीं है, परन्तु उससे मेरा कल्याण, केवलज्ञान अन्दर हो जाएगा या समकित होगा – ऐसा वहाँ भगवान को माने तो वह मूढ़ अज्ञानी है – ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ? कहो, भगवानभाई !

(संवत्) १९८२ में कहा था, एक भाई थे न ! वे कैसे, 'मणिलाल सुन्दरजी' या क्या नाम (था) ? 'मणिलाल सुन्दरजी' वढवाणवाले वैद्य, वैद्य थे ? १९८२ में वढवाण में चतुर्मास था न ? वढवाण... फिर रात्रि में बैठे थे, पाँच, सात, दस व्यक्ति बैठे थे फिर कहा, देखो ! भाई ! ऐसी बात है। एक व्यक्ति ने (दूसरे के) पिता को सौ रुपये दिये। अब वह दिये (इसलिए) नाम में ऊपरी रूप से लिखा था। बहुत विस्तार नहीं, फिर दोनों मर गये। तब (जिसने) सौ रुपये दिये (उसने कहा) मेरे पिता ने तेरे पिता को दस हजार रुपये दिये थे (उसने) सौ के ऊपर दो शून्य चढ़ाये, सौ रुपये दिये थे फिर दो शून्य चढ़ाकर दस हजार (किये और कहा) तेरे पिता को मेरे पिता ने दस हजार रुपये दिये थे, लाओ। दूसरा लड़का कहता है कि मैं बहियाँ देखूँगा। बहियों में देखा तो सौ निकलते हैं परन्तु यदि सौ स्वीकार करूँगा तो (सामनेवाला) दस हजार माँगता है (इसलिए उसने कहा) सौ भी नहीं (देना निकलता)। उसने दो शून्य चढ़ाये, इसने निकाल डाले। ऐसा कहा था। इन श्वेताम्बरों ने भगवान के सिर पर इतने अधिक गहने (चढ़ाकर) शून्य चढ़ा दिये। स्थानकवासी के पास से माँगा तो उसने मूल में से निकाल दिया। ए.... हरिभाई !

(संवत्) १९८२ की बात है, ४० वर्ष हुए, रात्रि में उपाश्रय में बैठे थे। 'मणिलाल सुन्दरजी' थे। देखो! भाई! मूर्ति तो है, कहो क्या कहना है तुम्हारे? परन्तु मूर्ति चाहिए सादी। श्वेताम्बर थे। पता है, श्वेताम्बर थे 'बढ़वा' जाते हुए आते थे। रात्रि में आये थे, वहाँ हमारे पास आये थे। देखो! मूर्ति है परन्तु मूर्ति में ऐसा नहीं होता, यह तो बढ़ा डाला, बढ़ाकर स्थानकवासी से माँगा तो वह कहते हैं, मूल में ही नहीं है। कहा, ऐसा बना है। बात सुनो, कहा। पाँच, सात व्यक्ति रात की चर्चा में थे, उस समय ऐसी कोई चर्चा नहीं थी। महाराज कुछ कहते होंगे, उसमें कुछ सन्देह का स्थान (नहीं होता)। वे कुछ कहते होंगे – ऐसा कहकर निकाल देते परन्तु यह तुम्हारा झूठा कर देते हैं।

यहाँ तो कहते हैं, **जगत् में व्यवहार को ही सत्य माननेवाले बहुत हैं।** क्या? यह व्यवहार देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, देवालय, मन्दिर आदि परमात्मा ये ही मानो सत्य है, इस व्यवहार को ही सत्य माननेवाले बहुत जीव हैं। **सब ऐसा ही कहते हैं कि घड़ा कुम्हार ने बनाया....** देखो! यह जरा ठीक है, भाई! घड़े को कुम्हार ने बनाया (ऐसा अज्ञानी देखता है परन्तु) **घड़ा मिट्टी से बना है...** पूरी दुनिया कहती है कि कुम्हार ने घड़ा बनाया, कुम्हार ने घड़ा बनाया.... व्यवहार को सत्य मान लेते हैं। यह तो व्यवहार है, इसे सत्य मान लेते हैं। समझ में आया? इसी प्रकार भगवान, तीर्थ और देवालय तो व्यवहार है, इनसे सत्य आत्मा मान ले, मूढ़ है – ऐसा कहते हैं। समझे न? **घड़ा मिट्टी से बना है – ऐसा कोई नहीं कहता।** कहते हैं कोई? उसमें आता है या नहीं? तेरा (उपादान का) नाम भी कौन याद करता है? उस उपादान से (निमित्त) कहे – जहाँ हो वहाँ पूछे तो हमारी बात है। घड़ा कुम्हार ने किया, रोटी स्त्री ने की, पानी भर आये.... यह घिसने का किया इस अमुक पत्थर द्वारा अच्छा सिल-बटना, सिल-बटना अर्थात् बारीक किया। यह सब बातें इस निमित्त से तो पूरी दुनिया बोलती है और तू उपादान की बात कहाँ पूछने जाता है? वह कहता है परन्तु उपादान भगवान के पास है, हाँ! सम्यग्ज्ञानी के पास उपादान का पूछें तो वे उपादान से कहेंगे।

यहाँ कहते हैं वास्तव में घड़े में मिट्टी का आकार है। क्या कहते हैं? घड़े में मिट्टी का आकार आया है। कुम्हार में आकार आया है? शक्ल समझे न? आकार... उसकी

आकृति... मिट्टी में कुम्हार की आकृति आयी है ? या मिट्टी आयी है ? **मिट्टी का ढेर ही घड़ेरूप हुआ है।** मिट्टी का जो ढेर था, वह घड़ारूप हुआ है या कुम्हार घड़े के रूप में हुआ है ? **कुम्हार के योग और उपयोग मात्र निमित्त है, इसी प्रकार तीर्थस्वरूप जिन प्रतिमाएँ केवल निमित्त है, उनके द्वारा अपना शुद्ध आत्मा जैसा परमात्मा, अरिहन्त और सिद्ध का स्मरण हो जाता है।** इतना.... परमात्मा ऐसे आत्मा थे, ऐसा स्मरण का एक निमित्त है।

वास्तव में वह क्षेत्र प्रतिमा, मन्दिर सब अचेतन जड़ हैं तो भी चेतन का स्मरण कराने के लिए निमित्त है। अर्थात् स्मरण करे तो निमित्त कहलाते हैं। वही उनका स्मरण, हाँ! परमात्मा भगवान का नहीं। **इसलिए उनकी भक्ति द्वारा परमात्मा की भक्ति की जाती है।** उनकी भक्ति द्वारा अर्थात् परमात्मा सर्वज्ञ की, हाँ! **मिथ्यादृष्टि जीव विचार नहीं करता कि वास्तविक बात क्या है ? वह मन्दिर और मूर्ति को ही देव मानकर पूजता है, इस कारण आगे विचार नहीं करता कि प्रतिमा तो अरहन्त और सिद्ध पद के ध्यानमय भाव का चित्र है, वह भाव की स्थापना है।** किसके भाव की ? भगवान के भाव की। **वह साक्षात् देव नहीं है।** वह साक्षात् देव भी नहीं तो यह आत्मा देव, वहाँ कहाँ से आया ? कहो, समझ में आया ?

फिर इन्होंने जरा ऐसा लिया है, भक्त कहीं पत्थर के गुण नहीं गाते। भगवान भावनिक्षेप से कौन है ? उनके वहाँ गुण गाते हैं। मूर्ति को देखकर (कहते हैं) भगवान तुम ऐसे हो, ऐसे हो, ऐसे हो। लो, समझ में आया ?

सम्यग्दृष्टि सदा जानता है और अनुभव करता है कि जब मैं मेरे अन्दर शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देखता हूँ तो मुझे मेरा आत्मा ही परमात्मा जिनदेव दिखता है। अपना परमात्मा देखने में तो अन्तरदृष्टि करे तो देखे तो जिनदेव तो यहाँ है। राग को जीतनेवाला वीतराग होनेवाला तो भगवान आत्मा स्वयं है। जिनदेव तो आत्मा है। यह जिनदेव पर में नहीं रहता। कहो, समझ में आया ? **मुझे मेरे अन्दर मुझे मेरे द्वारा ही देखना चाहिए। यही आत्मदर्शन निर्वाण का उपाय है।** आत्मा का दर्शन निर्वाण का उपाय है। कहीं भगवान का दर्शन निर्वाण का उपाय नहीं है.... बाहर की भक्ति, निर्वाण का उपाय नहीं है।

दृष्टान्त दिया है **सिंह की मूर्ति को साक्षात् सिंह मानकर पूजा करे कि यह सिंह मुझे खा जाएगा तो उसे अज्ञानी ही कहते हैं।** सिंह खा जाएगा ? ऐसे भगवान तिरा देंगे ? ऐसा यहाँ कहते हैं, भाई ! सिंह देखकर खा जाएगा – ऐसा माने तो मूढ़ है, वह तो स्थापना है। इसी प्रकार यह भगवान मुझे तार देंगे अन्दर का भाव, वह मूढ़ है। वहाँ कहाँ तेरा भाव था ? सुनते हैं न इतने वर्ष से ? ३१ वर्ष हुए। हैं ? इसका पक्का हृदय कठिन है। कहो, समझ में आया ? **ज्ञानी जानता है कि सिंह की मूर्ति का आकार उसकी क्रूरता और भयंकरता बताने के लिए एकमात्र साधन है....** सिंह के स्वरूप को दिखाने के लिए एक निमित्त है। उस सिंह का स्वरूप, हाँ! **वह साक्षात् सिंह नहीं है, इससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।** साक्षात् सिंह का लाभ नहीं है। **सिंह का स्वरूप बताने के लिए सिंह की मूर्ति परम सहायक है।** निमित्त है। **जो शिष्य सिंह के आकार और उसकी भयंकरता से अनजान है, उसे सिंह का ज्ञान कराने के लिए सिंह की मूर्ति प्रयोजनवान है।** यह निमित्त है। **इसी प्रकार जब तक स्वयं के अन्दर परमात्मा का दर्शन न हो, तब तक यह जिनमूर्ति परमात्मा का दर्शन कराने के लिए निमित्तकारण है।**

यह (सिंह) सब खा जाएगा... ऐसे यह मुझे तिरा देंगे... वे कहते हैं न ? गाय कहीं दूध देगी ? सिंह कुछ मारेगा ? गाय कहाँ है वहाँ ? वह तो स्थापना है। समझ में आया ? स्थानकवासी यह दृष्टान्त देते हैं। गाय कुछ दूध नहीं देती, सिंह कुछ नहीं मारता और भगवान कुछ तिरा नहीं देते। तीनों देते हैं, तीन बात कहते हैं। कौन कहता है कि यह गाय सच्ची है और कौन कहता है कि वहाँ भगवान सच्चे हैं, वह तो निमित्त हुआ। उन भगवान का आत्मा कैसा ? यह जानने का निमित्त हुआ और फिर ऐसा ही आत्मा मैं हूँ – ऐसा अन्तर्मुख देखे तो होता है। समझ में आया ? 'वाद-विवाद करे सो अन्धा' हैं ?

मुमुक्षु – कैसे देखना यह सिखलाते हैं ?

उत्तर – आत्मा कैसे देखना ऐसा सीखता है। कहो, समझ में आया ? **मूर्ति को मूर्ति मानना, परमात्मा नहीं मानना, यही यथार्थ ज्ञान है। जो व्यवहार में मग्न रहता है, वह मूल तत्त्व को नहीं पहचानता।** है न ? उस व्यवहार में वहीं का वहीं मग्न रहे

तो वह आत्मा को नहीं देखता। यह भगवान तिरा देंगे.... शाम, सबेरे, दोपहर तीन-तीन घण्टे वहीं का वहीं भगवान के पास (बैठा रहे), जय भगवान, जय भगवान (करे)। वहाँ नहीं, यहाँ अन्दर देख। समझ में आया? व्यवहार से निश्चय प्राप्त नहीं होता – ऐसा कहते हैं। तथापि व्यवहार है अवश्य। समझ में आया? हैं?

मुमुक्षु – यह योगसार कभी पढ़ा नहीं।

उत्तर – नहीं, कभी पढ़ा नहीं, पहली बार पढ़ा जाता है।

व्यवहार वास्तव में अभूतार्थ और असत्यार्थ है। जैसा मूल पदार्थ है, वैसा उसे नहीं कहता। इस ओर है, भाई! १८५ में। व्यवहार तो वास्तव में असत्यार्थ है। वहाँ भगवान है आत्मा? वह तो असत्यार्थ है आत्मा, यह आत्मा स्वयं सत्यार्थ यहाँ है, समझ में आया? दृष्टान्त अभी दिया है। **व्यवहार में जीव नारकी, पशु, मनुष्य, देव कहलाता है। निश्चय से ऐसा कहना असत्यार्थ है।** आत्मा नारकी, मनुष्य, पशु है? वह तो व्यवहार से बतलाया। वास्तव में तो झूठा है। **आत्मा न तो नारकी है न पशु है न मनुष्य है न देव है। शरीर के संयोग से व्यवहारनय से आत्मा के भेद व्यवहार चलाने के लिए किये गये हैं।** व्यवहारनय के.... व्यवहारनय के व्यवहार चलाने के लिए भेद किये गये हैं, निश्चय के लिए नहीं।

जैसे तलवार लोहे की होती है। सोने की म्यान में तो सोने की तलवार, चाँदी की म्यान में चाँदी की तलवार, पीतल की म्यान में पीतल की तलवार कहलाती है – यह कहना सत्य नहीं है। सत्य है? यह तो निमित्त से बात है। **सब तलवारें एक ही हैं। उनमें भेद करने के लिए सोना, चाँदी व पीतल की तलवार ऐसा कहना पड़ता है।** ऐसी सब बहुत लम्बी बात है।

परमात्मदेव को ही आप देखता है। लो! **इसी तरह जो अपने देहरूपी मन्दिर में विराजमान परमात्मदेव को ही आप देखता है, आपको मनुष्यरूप नहीं देखता।** अपने को मनुष्यरूप तो नहीं देखता परन्तु परस्वरूप जो परमात्मा, उसरूप आत्मा नहीं देखता। अपने स्वरूप से अखण्ड ज्ञायकमूर्ति है – ऐसा देखता है, उसे सच्चा ज्ञान और सत्य ज्ञान कहा जाता है। लो!

पुरुषार्थसिद्धिउपाय में यह दृष्टान्त दिया है न? **निश्चयनय यथार्थ वस्तु को कहता है। व्यवहारनय वस्तु को यथार्थ नहीं कहता।** देखो, निश्चयनय वास्तविक तत्त्व का सत्यस्वरूप कहता है, व्यवहारनय उस सत्यस्वरूप (को नहीं कहता) वह तो उपचार से कथन करता है। **सर्वज्ञदेव निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहते हैं।** सर्वज्ञ परमेश्वर व्यवहार को असत्यार्थ और निश्चय को सत्यार्थ कहते हैं। **बहुधा सर्व ही संसारी जीव इस भूतार्थ निश्चय के ज्ञान से दूर हैं।** भगवान आत्मा स्वस्वरूप से प्राप्त होता है, ऐसे निश्चय ज्ञान से बहुधा प्राणी दूर हैं। बहुभाग व्यवहार को निमित्त को लगा है। भगवान आत्मा....! व्यवहार, निमित्त है अवश्य, बहुभाग उसी में लगा है कि इससे निश्चय (प्राप्त होगा)। असत्य से सत्य प्राप्त होगा। आत्मा के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से वह सब इसमें नहीं है, इसलिए असत्य है। व्यवहार है, वह उपचार है। लोग – बहुत जीव वहाँ लगे हुए हैं। भूतार्थ भगवान आत्मा अन्दर में अखण्डानन्द प्रभु को देखने का निश्चय का ज्ञान करनेवाले थोड़े हैं। समझ में आया?

जिस बालक ने सिंह नहीं जाना है, वह बिलाव को ही सिंह जान लेता है, बिल्ली.... बिल्ली.... **क्योंकि बिलाव देखकर उसे सिंह कहा गया था, उसी तरह जो निश्चयतत्त्व को नहीं जानता है, वह व्यवहार ही को निश्चय मान लेता है।** लो! निश्चय समझे बिना व्यवहार को निश्चय मान ले वह तो मूढ़ है। दो तत्त्व अलग प्रकार के हैं। व्यवहार, वह उपचार और व्यवहार है और यह तो निश्चय और यथार्थ है। **व्यवहार ही को निश्चय मान लेता है। वह कभी भी सत्य को नहीं पाता है।** लो! समझ में आया? इतनी गाथायें तो मन्दिर की हुई। ४२ से शुरु हुई थी न? हैं? ४२ से यहाँ तक कहा। ४१ में दूसरा था न? ४१ में कुतीर्थ का था... ४१ में कुतीर्थ में भ्रमने से मुक्ति होती है – ऐसा मानता है और यह अपना भगवान सत्य है, वहाँ जाने से मुक्ति होती है – ऐसा मानता है। समझ में आया?

अज्ञानी, इस गंगा नदी में नहाना और इसमें स्नान करना और इसमें यह करना, तीर्थ में भ्रमना और भटकना.... जो वास्तविक व्यवहार तीर्थ भी सत्य नहीं है – ऐसे तीर्थ में भ्रमने से आत्मा का कल्याण होगा – ऐसा माननेवाला मूर्ख है। ऐसा कहा। फिर यहाँ कहा

कि व्यवहार तीर्थ देव, देवालय, मन्दिर आदि जैन शासन में है, गिरनार की यात्रा इत्यादि इनसे निश्चय प्राप्त होगा ऐसा कहनेवाले अपने अन्दर में भूले हैं। कहो, इसमें समझ में आया? आहा...हा...! यह वहाँ कहाँ भगवान थे? गिरनार में नेमिनाथ भगवान हैं? नेमिनाथ भगवान तो मोक्ष पधारे हैं। वहाँ नेमिनाथ भगवान को देखने जाये तो मूर्ख है। यह तो उनकी स्थापना है। उनके स्मरण में ऐसे 'नेमिनाथ' भगवान थे, ऐसे थे। ओ...हो...! वासुदेव और बलदेव, भगवान नेमिनाथ जब विराजमान थे, तब वन्दन करने आते थे। साक्षात् भगवान विराजते। बलदेव-वासुदेव जिनके भक्त थे – ऐसा स्मरण में निमित्त है, शुभभाव है, भक्ति का भाव तो मुनियों को भी होता है। मुनियों को होता है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव वन्दन करने गये थे या नहीं? गये थे, होता है, परन्तु कोई ऐसा मान ले कि वहाँ से – ऐसे से ऐसा अन्दर में जाया जाएगा और मुक्ति होगी, इस बात में सार नहीं है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कौन मुनिराज को नहीं मानेगा?

प्रश्न – आप मुनि को मानते हैं?

उत्तर – भाई! आत्मज्ञानयुक्त सच्चे भावमुनिपने को कौन नहीं मानेगा? वे तो पञ्च परमेष्ठी में साधु परमेष्ठी हैं, उनके तो हम दासानुदास हैं। कुछ लोग कहते हैं कि आप मुनि को नहीं मानते; परन्तु भाई! तुम्हें मनवाने का क्या काम है? अन्तर में सच्चा मुनिपना हो और दूसरे उसे न मानें तो क्या मुनिपना नष्ट हो जाता है? और यदि अन्तर में सच्चा मुनिपना न हो और दूसरे मुनिपना मानें तो क्या सच्चा मुनिपना आ जाता है? मुनिपना मनवाने आदि के विकल्प तो कहीं दूर रह गये, परन्तु मुनि को तो व्रतादि के शुभविकल्प आयें, वह भी कर्तव्य नहीं है, सहज है। *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*